रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य वामन। उन्होंने ही सबसे पूर्व 'रीति

१. बिहारी-सतसई

२. वही

Scanned with CamScanner

शब्द का प्रयोग किया और उसे काव्य की आत्मा माना—**'रीतिरात्मा काव्यस्य'**। परन्तु, इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे बहुत पहले से चली आ रही थी। दण्डी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड़ दो मार्गों का निर्देश किया है। भामह ने भी वैदर्भ और गौड़ काव्यों के अन्तर का सबल शब्दों में निर्देश किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में भी किसी-न-किसी रूप में रीति का अस्तित्व था। उधर सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है, 'गौड़ लोग अपने शब्दाडम्बर के लिए कुख्यात थे'। इसके अतिरिक्त गुणों का विवेचन तो (जिनको कि दण्डी और वामन दोनों ने रीति का मूल तत्त्व माना है) अत्यन्त प्राचीन है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में दस गुणों की सम्यक् व्याख्या की गई है। अतएव यही सिद्ध होता है कि रस और अलंकार की भाँति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी, जिसको वामन ने एक निश्चित रूपरेखा में बाँध दिया।

यदि भरत से ही आरम्भ करें, तो हम देखते हैं कि उन्होंने रीति की ओर तो कहीं भी संकेत नहीं किया, परन्तु गुणों का पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होंने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर, उन्हें दोषाभाव माना है और इस प्रकार दस दोषों के अभावरूप गुणों को भी संख्या में दस माना है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद-सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते॥

—ना० शा० १६।९७

भरत का गुण-विवेचन यद्यपि स्थान-स्थान पर अस्पष्ट और संदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओं को दण्डी और वामन ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने शब्द और अर्थवत् गुणों का पृथक् निरूपण नहीं किया लेकिन उन्हें इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरान्त भामह ने भी रीति को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व मानते हुए वैदर्भ और गौड़ काव्यों के भेद को अनर्गल घोषित किया। भामह में रीति के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग मिलता है : "वक्रोक्तिहीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नहीं है; और उससे परिपुष्ट गौड़ काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है।" गुणों की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है। उन्होंने उनकी संख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य, ओज और प्रसाद। बाद में ध्वनिवादियों ने भामह के तीन गुणों को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलंकारवादी थे, परन्तु उन्होंने गुणों को अलंकारों से अधिक महत्त्व दिया है। वास्तव में उन्होंने गुणों और अलंकारों में स्पष्ट भेद नहीं किया है। गुण और अलंकार

Scanned with CamScanner

दोनों ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म हैं—गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते हैं, अलंकार सत् और असत् दोनों प्रकार के काव्यों में मिल सकते हैं। वैदर्भ काव्य, जिसमें समस्त गुणों का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौड़ काव्य इसके विपरीत है, उसमें गुणों का विपर्यय मिलता है :

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

—काव्यादर्श १।४२

दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन् शब्द का प्रयोग किया है—उन्होंने मार्गों की संख्या दो और गुणों की दस मानी है। गुणों की गणना और नामकरण में भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या में दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कान्ति गुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और अर्थगत गुणों का पार्थक्य नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता, ओज शब्द के आश्रित हैं, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता और समाधि अर्थ के। माधुर्य में दोनों का आधार है। दोषों का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने भी भामह के ग्यारहवें दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषों की संख्या दस स्वीकार की है। इतना होते हुए भी दण्डी के विवेचन में अपने दोष हैं। उदाहरणार्थ, अर्थव्यक्ति प्रसाद के अन्तर्गत आ सकता है, उदारत्व और कान्ति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट हैं, उनमें जिस भावगत सौंदर्य की ओर संकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरान्त वामन ने रीति और गुणों का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप में प्रतिष्ठा कर दी। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान-पर तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार की : वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। वैदर्भी में दसों गुणों का समावेश रहता है, गौड़ी में ओज और कान्ति का, पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण दो भागों में विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए, वामन का ओज दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ-गुण कान्ति में रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्त्वों में परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारों में ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना।

Scanned with CamScanner

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने हैं, परन्तु भरत की भाँति उन्होंने गुणों को दोषाभाव न मानकर दोषों को गुणों का विपर्यय माना है, और उनका पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष, और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदों में विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमाएँ भी हैं—उनकी कतिपय परिभाषाएँ अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभक्त करना ही अधिक संगत नहीं है, स्थान-स्थान पर इसके लिए उन्हें खींच-तान करनी पड़ी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट हैं—जैसे उनका शब्द-गुण प्रसाद केवल ओज का निषेध-मात्र है और उदारता ग्राम्यत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतन्त्र गुण ही नहीं माना, क्योंकि वह ओज का केवल एक भेद-मात्र है। उनके कई गुण तो केवल अलंकार ही रह गए हैं। इस प्रकार वामन के विवेचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यों ने अनेक आक्षेप किए हैं। परन्तु इन साधारण आक्षेपों के होते हुए भी संस्कृत अलंकार-शास्त्र में वामन का गौरव कम नहीं होता। काव्य के बाह्य रूप की महत्ता को असंदिग्ध शब्दों में स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य का अपना पृथक् स्थान रहेगा। काव्य-शोभा अथवा सौंदर्य का वस्तुगत विवेचन उनका सर्वथा पूर्ण है।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने एक चौथी रीति—लाटी—का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदों का प्रयोग विशेष ही है। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है, अतएव स्वभाव से ही उन्होंने रीति को स्वतन्त्र महत्त्व नहीं दिया। आनन्दवर्द्धन ने उसे काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है। उनका महत्त्व इसी पर निर्भर है कि वे रस-परिपाक में कहाँ तक योग देती हैं। अभिनव एक पग और आगे बढ़ गए हैं, उन्होंने गुण और अलंकार से पृथक् रीति का अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। हाँ, गुणों को ध्वनि-वादियों ने वांछित महत्त्व दिया है, उनको रस का तत्त्व मानते हुए काव्य का नित्य अंग माना है। गुणों की संख्या उन्होंने दस से घटाकर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है—माधुर्य, ओज और प्रसाद, जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित हैं। कुन्तक ने भी रीति-विभाजन का तीव्र शब्दों में विरोध किया: उन्होंने कहा—देश के अनुसार काव्य-रीति का विभाजन असंगत है। इस प्रकार तो असंख्य रीतियाँ माननी पड़ेंगी, और न रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है, क्योंकि काव्य तो कवि-प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह सबसे उत्तम होगी—उसमें उत्तम,

Scanned with CamScanner

मध्यम और अधम के लिए स्थान नहीं है। रीति के स्थान पर कुन्तक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि-प्रस्थान-हेतु अर्थात् कवि-कर्म का ढंग माना है। मार्गों को उन्होंने देश-भेद के अनुसार विभाजित न करके रचना-गुण के अनुसार दो भेदों में विभाजित किया है : सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणों की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होंने दोनों मार्गों के तत्त्व-रूप चार गुण माने हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। यों तो चारों गुण दोनों ही मार्गों के मूल तत्त्व हैं परन्तु उनका स्वरूप दोनों में भिन्न है। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण हैं जो सभी प्रकार के काव्यों में वर्तमान होने चाहिएं। कुन्तक ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होंने बाह्य उपादानों को अधिक महत्त्व नहीं दिया, स्वभावतः उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुन्तक के उपरान्त भोज ने मागधी और अवन्तिका दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत कुछ समस्त पदों के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होंने वैदर्भी और पांचाली को मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड-रीति की संज्ञा दी है, उसमें संगीत का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणों और दोषों के विवेचन में भी उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नहीं हैं, उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नहीं मिलती। उदाहरण के लिए, उनकी रीति-विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक हैं।

भोज के परवर्ती आचार्यों ने मौलिक सिद्धान्तों की कोई विशेष सृष्टि नहीं की, वे प्रायः व्याख्याता ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों से एकरूप कर दिया है : वैदर्भी और उपनागरिका एक हैं, परुषा और गौड़ी एक हैं, पांचाली और कोमला एक हैं। इनमें पहली दोनों माधुर्य-व्यंजक वर्णों के आश्रित हैं, दूसरी ओज-व्यंजक वर्णों के, तीसरी में ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो इन दोनों से भिन्न हैं। मम्मट का विवेचन बहुत कुछ आनन्दवर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्हीं के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणों की संख्या केवल तीन ही मानी है—और वामन-कृत दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणों को या तो इन तीनों में ही अन्तर्भूत कर दिया है, या फिर दोषाभाव कहकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार नहीं दिया है। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति को अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्यों में केवल विश्वनाथ

Scanned with CamScanner

ने ही रीति का रस और गुण के सम्बन्ध में व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के अनुसार चार रीतियाँ मानी हैं और उनका आधार समस्त-पद-प्रयोगों को न मानकर स्पष्ट रूप से वर्णों के संगुम्फन को ही माना है। वैदर्भी, जो माधुर्य से सम्बद्ध है, शृंगार, करुणा और शान्त के उपयुक्त है, और गौड़ी, जिसका सम्बन्ध ओज से है, वीर, बीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पड़ती है। पांचाली की परिभाषा उन्होंने बहुत कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नहीं हो सकी। उनकी लाटिका रीति में भी वैदर्भी और पांचाली की ही विशेषताएँ हैं, अतएव उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानना व्यर्थ है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के बाह्य रूप को एक बार फिर गौरव के साथ आगे लाने का प्रयत्न किया, और गुण आदि का विस्तृत विवेचन भी किया। परन्तु कुल मिलाकर वे भी इस क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि से भिन्न कोई स्वतंत्र उद्भावना नहीं कर सके। रीति की परम्परा, जो कि संस्कृत में भी अधिक लोक-प्रिय नहीं हो पाई थी, अन्त में स्वभावतः ही उसी के साथ निःशेष हो गई। हिन्दी के आचार्यों ने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

Scanned with CamScanner